प्रवचनसार

पं. धन्यकुमार गंगासा भोरे

भ. महावीर के निर्वाण के पश्चात् गौतम, सुधर्माचार्य, और जंबूस्वामी तीन अनुबद्ध केवली हुए। उनके अनन्तर आ. प्रथम भद्रबाहु तक पाँच श्रुतकेवली हुए। यहाँ तक भावश्रुत और द्रव्यश्रुत की मौखिक परम्परा अविच्छिन्न चलती रही। पश्चात कालदोष से अंगपूर्व ज्ञान का क्रम से ऱ्हास होता गया। पाँच छहसो वर्ष के नन्तर अंगश्रुत का लोप हुआ और पूर्वज्ञान का कुछ अंशमात्र ज्ञान शेष रहा। भविष्य में आगम की परम्परा अविच्छिन्न चलती रहे इसलिए जिनश्रुत अक्षरनिबद्ध करने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

आचार्य धरसेन को अग्रायणी पूर्व के कुछ प्राभृतों का ही ज्ञान था और आचार्य गुणधर को ज्ञान-प्रवाह पूर्व के कुछ प्राभृतों का ज्ञान गुरुपरम्परा से प्राप्त था। यह स्वल्प ज्ञान भी नष्ट न हो इस उद्देश से आचार्य धरसेन ने शिष्योत्तम पुष्पदंत और भूतबली को योग्य परीक्षा करके अपनी विद्या दी। उन्होंने ही धवल, जयधवल और महाधवल इनके मूलसूत्र षटखण्डागम की रचना की।

आचार्य गुणधर के द्वितीय श्रुतस्कध का ज्ञान गुरुपरम्परा से आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य को प्राप्त था। इन्हें ज्ञानप्रवाद पूर्व के दशम वस्तु के तृतीय प्राभृत का ज्ञान था। उसकी भावभंगी पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड आदि ग्रन्थों में अक्षरनिबद्ध हुई। आज तक उपलब्ध सामग्रीनुसार निष्पक्ष संशोधन द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द का काल ईसवी शताब्दि प्रथम शति सिद्ध होता है।

इस प्रकार मोक्षमार्ग व अध्यात्मविद्या इसका निरूपण सरल और सुबोध शैली में सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में ही देखने में आता है। यह आचार्य कुन्दकुन्द का मुमुक्षु जीवों पर महान् उपकार है। आज उन युगप्रवर्तक आचार्य कुन्दकुन्द का जो साहित्य उपलब्ध है उसमें कतिपय प्राभृत, द्वादशानुप्रेक्षा, प्राकृत भक्तिपाठ, पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार आदि शास्त्र हैं। पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार ये तीन ग्रन्थ अनमोल और महत्त्वपूर्ण हैं। वे 'ग्रन्थत्रयी' या 'प्राभृतत्रयी' नाम से विख्यात हैं। इन ग्रन्थों में तथा उनके अन्य साहित्य में ज्ञान की मुख्यता से आत्मतत्त्व का और मोक्षमार्ग का निरूपण है। ग्रन्थों के नामों से ही साधारणतः प्रतिपादित विषयों का बोध हो जाता है। श्रीसमयसार में युक्ति, आगम, स्वानुभव और गुरुपरम्परा इन चारों प्रकार से आत्मा का शुद्ध स्वरूप समझाया है। पञ्चास्तिकाय में कालद्रव्य के साथ पाँच अस्तिकायों का और नवतत्त्वों का स्वरूप संक्षेप में आया है। प्रवचनसार में यथानाम जिनप्रवचन का सार संक्षेप में ग्रथित किया गया है। यह ग्रन्थत्रयी या प्राभृतत्रयी या उनका कुछ अंश को अपना आधार बनाकर उत्तरकालवर्ति अनेक आचार्यों ने और ग्रन्थकारों ने ग्रन्थनिर्मिति की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रंथकार आचार्य प्रवरने प्रस्तुत ग्रंथमें प्रारंभमें ही वीतराग चारित्रके लिए अपनी तीव्र आकांक्षा प्रकट की है। दिगंबर परंपरा में सर्वमान्य ऐसे भावलिंगी दिगंबर साधु थे। आकांक्षा शुद्धोपयोग की होने पर भी मध्य में शुभोपयोग की भूमिका आती है और प्राणिमात्र का कल्याण चाहनेवाली परोपकारिणी बुद्धि से भव्य प्राणियों के हित के लिए मंगलमय साहित्य का निर्माण हुआ है। इस ग्रंथ में बार बार क्रमापतित सराग चारित्र को पार करके वीतराग चारित्ररूप परम समाधि की भावना प्रगट हुई है।

सामान्य रीति से षटद्रव्य स्वरूप भूमिका के आधार से मोक्षमार्ग का और मोक्षमार्ग के विषयभूत सप्त तत्त्वों का वर्णन उनके साहित्य की अपनी विशेषता है। आचार्य देव सरल भाषा में विषय के हार्द को छूते हुए विषय स्पष्टीकरण के लिए ही यत्रतत्र उपमा दृष्टान्तादिक आये हैं। जीवन साधना और असाधारण बुद्धिमत्ता से इन प्रतिपाद्य विषयसंबंधी उनका अधिकार उनके साहित्य में स्पष्टरूपेण प्रगट होता है। श्री समयसार में शुद्ध नय से, परम भावग्राही द्रव्यार्थिक नय से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विस्तार से वर्णन आया है। इसलिए वह ग्रंथ स्वानुभव प्रधान होकर अध्यात्म शास्त्र का मूलाधार रहा है। यह ग्रंथ मुमुक्षु की जीवनसाधना की ओर साक्षात निर्देश करता है। परन्तु इस प्रवचनसार ग्रंथ का मूल प्रयोजन वही एक होनेपर भी भूमिका और दृष्टिकोण कुछ मात्रा में स्वतंत्र रहा है। इसमें जो भी निरूपण है वह वस्तुपूरक है। निश्चय से षटद्रव्य और तत्त्वों का स्वरूप समझाकर अंत में वे समाधि की ओर ही ले जाते हैं। इस प्रकार भूमिका में भिन्नता होने के कारण ही समयसार में आचार्य भी रागादि विकार को पौद्गलिक बताते हैं, साथ में आत्मा उनका कर्ता नहीं यह भी बताते हैं। और प्रवचनसार में रागद्वेष[1] मोह से उपरंजित होने के कारण कर्मरजसे संबद्ध आत्मा को ही बंध कहा है और राग परिणामों को आत्माका ही कर्म[2] है ऐसा स्पष्ट कहा है। इन दोनों भूमिकाओं में विरोध या विसंवाद नहीं, अपितु पूर्ण सामंजस्यही है। वास्तव में प्रवचनसार में प्रदर्शित तत्त्वदृष्टि के आधारपर ही समयसार में दिखलाई हुई जीवन दृष्टि आधारित है, ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। प्रवचनसार के दूसरे अध्याय में ज्ञेयतत्त्व के साथ बन्धतत्त्व का निरूपण तथा पंचास्तिकाय का सप्त तत्त्वों का निरूपण और समयसार का सप्त तत्त्वों का निरूपण तथा कर्ताकर्म का निरूपण इसके उन दो ग्रन्थों में दृष्टिकोन का अन्तर स्पष्टतया प्रतीति में आता है।

प्रथम श्रुतस्कंध–ज्ञानसुखप्रज्ञापन

आचार्य प्रवर ने जिनप्रवचन का हार्द इस ग्रंथ के तीन श्रुतस्कंधों[3] में विभक्त करके प्रगट किया है। प्रथम श्रुतस्कंध में आत्मा के ज्ञान स्वभाव व सुखस्वभाव का वस्तुपूरक कथन है। आचार्य स्वयं वीतराग चारित्र की प्राप्ति चाहते हैं क्यों कि वीतराग चारित्र से ही मोक्ष होता है।

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहकोहविहोणो परिणामो अप्पणो हु समो॥

---

१. स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स।
आदीयदे कदाई विमुच्चदे कम्मधूलीहिं॥ १८६॥

२. प्रवचनसार, गाथा १८४

३. देखो आ. अमृतचंद्र के प्रत्येक अध्याय के समाप्ति को 'श्रुतस्कंध' ऐसा कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप में तन्मय प्रवृत्ति का नाम चारित्र और वही आत्मा का स्वभाव होने से धर्म है, समवस्थित आत्मगुण होने से साम्य है, रागद्वेष-मोहरहित आत्मा का निर्विकार परिणाम ही साम्य है, अपने निर्विकार स्वभाव में स्थित होना ही धर्म है। धर्म कोई धर्म परिणत आत्मा से अलग वस्तु नहीं है। प्रत्येक वस्तु परिणाम स्वरूप है। आत्मा भी परिणमन स्वभावी होने से स्वयं अशुभ, शुभ या शुद्ध परिणमता है। शुद्धोपयोग से परिणत धर्मी आत्मा मोक्ष सुख को शुभोपयोग से परिणत धर्मी जीव स्वर्गसुख को और धर्मपराङ्मुख अशुभोपयोग से परिणत आत्मा तिर्यंचनरकादि गतिसंबंधी दुःख को प्राप्त करता है। शुद्धोपयोगी धर्मात्मा धर्मशास्त्र और वस्तुतत्त्व का ज्ञाता, संयमतप से युक्त विरागी और समतावृत्ति का धारक होकर कर्म रजको दूर करके विश्व के समस्त ज्ञेयव्यापी ज्ञानस्वभावी आत्मा को स्वयं अन्य किसी भी कारक की अपेक्षा किये बिना ही प्राप्त करता है।

निश्चय से आत्मा का परके साथ कारक संबंध न होने से बाह्य साधन की चिंता से आकुलित होने की उसे आवश्यकता नहीं है। ज्ञान और सुख आत्मा का स्वभाव है और स्वभाव में पर की अपेक्षा होती नहीं, इसलिए स्वयंभू आत्मा को इन्द्रियों की अपेक्षाविना ही ज्ञान और सुखस्वभाव प्रगट होता है। स्वभाव-स्थित केवली भगवान् के शारीरिक सुखदुःख भी नहीं होता है। उनका परिणमन ज्ञेयानुसार न होकर, मात्र ज्ञानरूप होने से सर्व पदार्थ समूह अपने-अपने समस्त पर्याय सहित उनके ज्ञान में साक्षात् झलकते है। उन्हें कुछ भी परोक्ष नहीं होता। उनका ज्ञान सर्वग्राही होने से आत्मा भी उपचार से 'सर्वगत' कहलाता है। चक्षु विषय में प्रवेश न करके भी देखता है उसी तरह जानते समय ज्ञान ज्ञेय में न जाता है न ज्ञेय ज्ञान में जाते है। आत्मा स्वभाव से जाननेवाला है। पदार्थ स्वभाव से ज्ञेय है। उनमें ज्ञेय ज्ञायक रूप से व्यवहार होता है वह परस्पर की अपेक्षा से होता है।

आत्मा और अन्य पदार्थ इनमें ज्ञेयज्ञायक व्यवहार होनेपर भी न आत्मा पदार्थों के कारण ज्ञायक या ज्ञाता है तथा न पदार्थ भी ज्ञान के कारण ज्ञेय है। आत्मा स्वभाव से ज्ञानपरिणामी हैं और पदार्थ स्वभाव से ज्ञेय है। आत्मा के ज्ञान में ज्ञान की स्वच्छता के कारण पदार्थ स्वयं ज्ञेयाकार रूप से झलकते हैं, प्रतिबिंबित होते हैं। स्वयंभू आत्मा का ज्ञान स्वाभाविक रूप से परिणमता हुआ अतीन्द्रिय होने से उस ज्ञान की स्वच्छता में सर्व पदार्थ समूह अपने पर्यायसमूह सहित प्रतिबिंबित होते हैं, और आत्मा ऐसे सहज ज्ञानरूप से परिणमित होकर अपने स्वभाव के अनुभव में तन्मय होता है। ज्ञान में संपूर्ण वस्तुमात्र अंतर्व्याप्त होने से ज्ञान उपचार से 'सर्वगत' कहलाता है। वैसे ही आत्मा ज्ञानप्रमाण होने से ज्ञान ज्ञेयप्रमाण और ज्ञेय वस्तुमात्र होने से आत्मा भी 'सर्वगत' कहलाता है। तथा ज्ञानगत ज्ञेयकारों का कारण बाह्य में उपस्थित पदार्थों के आकार होने से उपचार से ज्ञेयभूत पदार्थ भी 'ज्ञानगत' कहलाते हैं।

ऐसा कथन व्यवहार ही है। वास्तव में जानतेसमय आत्मा नेत्र की तरह कहीं ज्ञेयों में प्रविष्ट नहीं होता तथा ज्ञेय वस्तु भी अपना स्थान छोडकर ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होती। दोनों में ज्ञायक तथा ज्ञेय स्वभाव के कारण ऐसा व्यवहार होता है। मानो स्वाभाविक ज्ञान ने समस्त ज्ञेयाकारों को पीलिया हो ऐसा कारण ज्ञेयज्ञायक व्यवहार के कारण ही ज्ञान सर्वगत और जीव सर्वज्ञ कहा जाता है। वास्तव में अन्तरंग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टि से ज्ञान आत्मसंवेदन में ही रत है। इस कथन से कहीं सर्वज्ञता की मान्यता और सिद्धि में बाधा नहीं समझना चाहिए। कारण यह है की उस स्वाभाविक ज्ञान में अशेष पदार्थसमूह ज्ञेयाकाररूप से झलकता है यह वस्तुस्थिति है। 'भगवान् सर्वज्ञ है' ऐसा कहने में आचार्यों का आशय केवल यही समझना चाहिए।

इस प्रकार व्यवहार से आत्मा की अर्थों में अर्थों की ज्ञान में परस्पर वृत्ति होने पर भी केवली भगवान् उन अर्थों को न ग्रहण करते हैं, न छोडते हैं, न उन पदार्थों के रूप में परिणमित होते हैं, वे मात्र उन्हें जानते ही हैं। ऐसा ज्ञान केवली-भगवान् को ही होता हो और अल्पज्ञों का नहीं होता हो ऐसी आकांक्षा से आकुलित होने की आवश्यकता नहीं है स्वभाव का संवेदन तो श्रुत ज्ञान में भी सर्वत्र होता है।

किसी भी सम्यग्ज्ञान में या श्रुतज्ञान में जो क्षयोपशमिकता या सूत्र की उपाधि रहती है, उससे उसकी समीचीनता में या ज्ञान स्वभाव में कोई बाधा नहीं आती, वस्तु दृष्टि से ज्ञान की उपाधि गौण होती है। ऐसी स्थिति में ज्ञप्ति के सिवा और शेष रहता ही क्या? आत्मा के ज्ञानस्वभाव की श्रद्धापूर्वक ज्ञान चारित्र की साधना से, शुद्धोपयोग से शुद्ध आत्मा की साक्षात् प्राप्ति होती है।

इस ज्ञप्ति स्वभाव के कारण ही ज्ञान स्वपरिच्छेदक कहा जाता है। ज्ञेय संपूर्ण विश्ववर्ती अशेष-पर्याय सहित पदार्थसमूह है। इन्द्रिय ज्ञान की विषय-मर्यादा वर्तमान पर्यायों तक ही सीमित होती है। परंतु अतीन्द्रिय ज्ञान में अतीत और अनागत पर्यायें भी वर्तमान की तरह ही प्रतिबिंबित होती हैं, जैसे भित्ती पर भूत या भावी तीर्थंकारों के चित्र उत्कीर्ण होते हैं उसी तरह ज्ञान स्वभाव की अपनी विशिष्ट दिव्यता है।

समस्त पदार्थ ज्ञान में झलकते हुए भी उस स्वाभाविक ज्ञान में ज्ञेय पदार्थों के अनुसार रागपरिणति नहीं होती। यदि ज्ञान का ज्ञेयानुसार परिणमन है तो वह ज्ञान न क्षायिक है न अतींद्रिय है। ज्ञान के कारण ज्ञेय परिणति नहीं होती, ज्ञेय परिणति तो उदय प्राप्त कर्मों में राग द्वेष के कारण ही होती है। भगवान् को उक्त प्रकार की ज्ञेयार्थ परिणमन रूप क्रिया होती ही नहीं, मात्र ज्ञप्ति-क्रिया होती है। यहाँ यह आशंका हो सकती है कि भगवान् के स्थान विहार आदि क्रियाएँ कैसी पाई जाती है?[1] उत्तर यह है भगवान के उक्त क्रिया अघाति कर्मोदय के फल रूप से पायी जाती है, किन्तु वे मोह के बिना इच्छा बिना ही घाति कर्म के क्षय से अविनाभावी होने के कारण उपचार से क्षायिक कही जाती है। क्रिया का बन्ध रूप कार्य भी वह नहीं पाया जाता है। इससे अन्य छद्मस्थ और मोहोदयापादित प्राणीयों की क्रियाएँ भी उनके स्वभाव में विघात नहीं करती हो ऐसा नहीं समझना चाहिए। क्यों कि यदि ऐसा माना जायगा तो संसार भी नहीं रहेगा, आत्मा शुभाशुभरूपेण परिणमित होता हुआ कर्म संयोग को प्राप्त होता है। केवली भगवान् की क्रियाएँ राग बिना सहज रूप से पायी जाती है।

---

१. प्रवचनसार, गाथा ४४-४५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसके ज्ञान में अशेष पदार्थों के आकार नहीं झलकते उसके समस्त ज्ञेयाकाररूप ज्ञान में न्यूनता होने के कारण संपूर्ण निरावरण स्वभाव की भी साक्षात प्राप्ति न होने से एक आत्मा को भी वह पूर्णतया नहीं जानता और समस्त ज्ञेयाकारों कों समा लेनेवाले आत्मा के ज्ञान स्वभावों को नहीं जानता, वह सर्वको भी नहीं जानता[1] इस कथन में आचार्य का अभिप्राय अतीन्द्रिय ज्ञान के स्वभाव का दिग्दर्शन करना मात्र है। इससे भगवान् यथार्थ में परमार्थ से आत्मज्ञ होने से सर्वज्ञ कहे जाते हैं वास्तव में सर्वज्ञता नहीं है ऐसा फलितार्थ आचार्यों को अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि अतीन्द्रिय स्वाभाविक ज्ञान में समस्त ज्ञेयाकार झलकते हैं यह आत्मा की स्वच्छता शक्ति है और यह वस्तुस्थिति है।

इस प्रकार स्वाभाविक ज्ञान इन्द्रियादिकों की अपेक्षा बिना ही त्रैकालिक, विविध, विषम, विचित्र पदार्थ समूह को युगपार जानता है ऐसा ज्ञान का स्वभाव आत्मा का सहज भाव है।

जैसा ज्ञान आत्मा का स्वभाव है उसी प्रकार सुख भी आत्मा का स्वभाव ही है। जिस प्रकार इंद्रिय-ज्ञान पराधीन है, ज्ञेयों में क्रम से प्रवृत्त है, अनियत और कदाचित होने से वह हेय है और अतीन्द्रिय ज्ञान स्वाधीन है; युगपत् प्रवृत्त है, सर्वदा एकरूप है और निराबाध होने से उपादेय है उसी तरह इंद्रिय सुख और अतिन्द्रिय सुख के विषय में क्रमशः हेयोपादेयता समझनी चाहिए। यथार्थ में सुख ज्ञान के साथ अविनाभावी है यही कारण है कि केवल ज्ञानी को पारमार्थिक सुख होता है और परोक्ष ज्ञानीयों का सुख अयथार्थ सुख एवं सुखाभास ही होता है। कारण स्पष्ट है। प्रत्यक्ष केवल ज्ञान के अभाव में परोक्ष ज्ञान में निमित्तभूत इन्द्रियों में जीवों की स्वभाव से ही प्रीति होती है, वे तृष्णा रोग से पीडित होते हैं और उस तृष्णा रोग के प्रतीकार स्वरूप रम्य विषयों में रति भी होती है, इसलिए असहाय प्राणी क्षुद्र इन्द्रियों में फसे हैं उन्हें स्वभाव से ही आकुलतारूप दुःख होता है। नहीं तो वे विषयों के पीछे क्यौं दौडधूप करते? विचार करने पर वास्तव में शरीरधारी अवस्था में भी शरीर और इन्द्रियां सुखका कारण हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। उनमें मोह रोग द्वेष मूलक होनेवाली इष्टानिष्ट बुद्धि मात्र सांसारिक सुखदुःखका यथार्थ कारण है। वहाँ पर भी स्वयं आत्मा ही इन्द्रिय सुखदुःख रूप से परिणत देखा जाता है। दिव्य वैक्रियिक शरीर भी देवों को सुख का वास्तव में कारण नहीं है, आत्मा ही स्वयं इष्टानिष्ट विषयों के आधिन होकर सुखदुःख की भावना करता है। तात्पर्य यह है आत्मा स्वयं सुख स्वभावी होने से उस सांसारिक सुखदुःख में भी शरीर, इन्द्रिय और विषय अकिंचित्कर ही है। सूर्य जैसा स्वयं प्रकाशी है वैसे प्रत्येक आत्मा स्वयं सिद्ध भगवान् की तरह सुख स्वभावी है।

शुभोपयोगरूप पुण्य के निमित्त से उत्तम मनुष्य और देवादिकों के संभवनीय भोग प्राप्त होते हैं और अशुभयोग रूप पाप से तिर्यंचगति, नरकगति, और कुमनुष्यादिक संबंधी दुःख प्राप्त होते हैं, परंतु उक्त सब भोग संपन्न और दुःखी जीवों को समान रूप से तृष्णारोग तथा देह-संभव पीडा दिखाई देने से वे वास्तव में दुःखी ही हैं। इसलिए तत्त्व दृष्टि में शुभाशुभ भेद घटित नहीं होते कारण यह है कि पुण्य भी वस्तुतः सुखाभास और दुःख का कारण है। पुण्य निमित्तक सांसारिक सुख विषयाधीन है, बाधा

१. प्रवचनसार, गाथा ४८-४९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहित है, असतोदय से खण्डित है, बंध का कारण है और विषम होने से वास्तव में दुःख ही है। इसलिए तत्त्व दृष्टि पुण्य पाप में भेद नही करती।

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्य पावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंच्छण्णो ॥ ७७ ॥

जो पुण्य–पाप में संसार कारणरूप से समानता स्वीकृत नहीं करता वह अभिप्राय में कषाय को उपादेय माननेवाला मिथ्यादृष्टि होने से अनन्त संसार का ही पात्र है। तत्त्व को यथार्थ जानकर परद्रव्य में रागद्वेष न करता हुआ जो शुद्धोपयोग की भूमिका प्राप्त करता है वही देहजन्य दुःख नष्ट करता है। यदि पाप से परावृत्त होकर भी शुभ में मग्न होता है और मोहादिकों को छोडता नहीं है तो वह भी दुःख नष्ट करके अपने शुद्धात्मा को नहीं पा सकता। अतः मोह का नाश करने के लिए प्रत्येक मुमुक्षु जीव को बद्धपरिकर होना चाहिए। उस मोह राजा के सेना को जीतने का उपाय कौनसा हो सकता है यह एक गंभीर प्रश्न है। उसके लिए अरिहन्त परमात्मा उदाहरणस्वरूप है। उनका आत्मा शुद्ध सुवर्ण की तरह अत्यन्त शुद्ध है। उनके द्रव्यगुणपर्याय द्वारा यथायोग्य ज्ञान से आत्मा के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है। प्रत्येक जीव का आत्मा और गुण द्रव्य दृष्टि से (शक्ति अपेक्षा से) अरहन्त के समान ही है, पर्याय में अन्तर है। शुद्धदशा प्राप्त आत्मा अशुद्ध भूमिकापन्न जीवों के लिए साध्य है। शुद्ध ज्ञायक स्वभाव के आश्रय से पर्याय भेद और गुणभेद की वासना को द्रव्य में अतर्मग्न करके शुद्धोपयोग द्वारा ही मोहकषाय की सेना जीती जा सकती है। वही हमारे लिए मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग में व्यवहार की जो प्रतिष्ठा है वह इसही प्रकार है। आत्म-स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए अरिहन्तादि के स्वरूप का ज्ञान कारण है, इतना ही देवशास्त्रगुरु का प्रयोजन है। मोक्ष की प्राप्ति तो स्वयं पुरुषार्थ द्वारा शुद्धोपयोग का राजमार्ग सही–सही स्वीकारने से ही होगी।

शुद्धात्मरूप चिंतामणी रत्न की रक्षा के लिए रागद्वेषरूपी डाकुओं से नित्य सावधान रहना जरुरी है। शुद्धात्म स्वभाव से च्युत करने वाले मोह का स्वभाव और उसकी रागद्वेष मोहमयी त्रितयी भूमिका को जानकर उनसे बचना कार्यकारी है। रागद्वेष मोह से परिणत जीव ही कर्मबन्ध के चक्कर में आते है। पदार्थ के स्वरूप का अयथार्थ ग्रहण, विशेषतः तिर्यंच मनुष्यों में जायमान करुणाबुद्धि (एक जीव दुसरे को बचा सकता है ऐसी भावना बाह्यतः दयारूप दिखती है परन्तु उसमें पर के कर्तृत्व का व्यामोहरूप अंधकार से व्याप्त है।) इष्ट विषयों की प्रीति जो रागरूप है तथा अनिष्ट विषयों की अप्रीति जो द्वेषरूप है ये मोह के चिन्ह है जानकर तीन भूमिका स्वरूप मोह का नाश करना चाहिए।

अरहन्त के स्वरूप समझने के साथ जिनशास्त्र का अध्ययन यह भी मोहक्षय का कारण है। जिनशास्त्र में निर्दिष्ट वस्तु व्यवस्था को जानकर प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्रता का बोध करने से ही पर-संबंधी राग द्वेष दूर होते हैं और मोह क्षीण होता है। आगमाभ्यास से स्वपर का भेद विज्ञान और स्वपर भेद विज्ञान से वीतराग भावों की वृद्धि होती है। यथार्थतः वीतराग चारित्र में स्थित आत्मा ही साक्षात धर्म है।

दूसरा श्रुतस्कंध ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन है। उसमें प्रथम २२ गाथाओं में पदार्थ के द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप का अपूर्व वर्णन है, जो प्रतीति कराने वाला, तलस्पर्शी और अत्यंत मार्मिक है। यह आचार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अनुभव का साक्षात दर्शन हो पाता है। प्रत्येक वस्तु द्रव्यमय है; द्रव्य अनन्त विशेषों का–गुणों का आधार है, तथा गुण पर्याय और द्रव्य पर्यायों का पिण्ड है। जो अपने अस्तित्व स्वभाव को छोडे बिना उत्पाद व्यय ध्रौव्य से और गुण पर्यायों से युक्त होता है वही द्रव्य है। उत्पाद व्यय ध्रौव्य तथा द्रव्य गुण, और पर्याय इनका अस्तित्व एक ही है, उनमें लक्षण भेद होने पर भी उनमें प्रदेश भेद या वस्तु भेद नहीं है। एक सत्ता गुण से संपूर्ण वस्तु मात्र का ग्रहण होता है वही महासत्ता कहलाती है। वस्तु अस्तित्व युक्त होने पर अपने–अपने गुणपर्यायों में ही वह अस्तित्व व्याप्त होता है वही अवान्तर सत्ता या स्वरूप सत्ता कहलाती है। एक ही अस्तित्व का यह दो तरह का कथन है। वह अस्तित्व स्वयं उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। द्रव्य प्रति समय परिणमन शील है वह नवीन पर्याय से उत्पन्न होता है। उसी समय पूर्व पर्याय से नष्ट होता है, फिर भी द्रव्य ज्यों का त्यों बना रहता है। इसी तरह प्रत्येक पर्याय भी उत्पादव्यय ध्रौव्य स्वरूप सिद्ध होती है। द्रव्य अनंत पर्यायों का पिण्ड है। एक द्रव्य पर्याय अनंत गुण पर्यायों का आधार और द्रव्य अनंत द्रव्य पर्यायों का पिण्ड होता है। जिस प्रकार मोतियों की माला में प्रत्येक मोती अपने–अपने स्थान में प्रकाश मान है उसी तरह प्रत्येक पर्याय अपने–अपने काल में क्रम से होती है। इसलिए वस्तु का अस्तित्व अतद्भाव से युक्त दिखाई देता है (उसे असदुत्पाद कहते है) और वस्तुपने से तद्रूप से भी दिखाई देता है (उसे सदुत्पाद कहते है)। द्रव्य, गुण, पर्यायों में अन्यत्व (लक्षण भेद) होकर भी पृथक्त्व (प्रदेश भेद) नहीं है। द्रव्य में नित्यानित्यता, तद्रूप और अतद्रूप सदुत्पाद और असदुत्पाद गौण–मुख्य व्यवस्था के आधीन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय से सिद्ध होते है। इस प्रकार अनेकान्त से जैन प्रणीत वस्तु व्यवस्था भली भांती सिद्ध होकर कार्य कारण भाव को भी सिद्ध करती है।

यह वस्तु व्यवस्था कार्यकारण भावपूर्वक सुवर्णकंकण–पीतता, बीजांकुर वृक्ष आदि दृष्टान्तों से स्पष्ट समझायी गयी है।

जीव का निर्णय करना प्रयोजन होने से उक्त सामान्य द्रव्य स्वरूप का विचार उदाहरणस्वरूप जीव के उत्पादव्ययध्रौव्य या गुणपर्याय रूप से किया गया है। संसार में आत्मा की नरनारकादि अवस्थाएं दिखाई देती हैं उनमें शाश्वत कोई नहीं है। संसार में जीव के रागादिरूप विभाव परिणति स्वरूप क्रियाएँ अवश्य होती हैं उसका ही फल ये अशाश्वत नरनारकादि पर्याएँ है। आत्मा की सविकार परिणति आत्मा का कर्म ही है, उनका निमित्त पाकर बना हुआ पुद्गल परिणाम भी कर्म कहा जाता है और मनुष्यादि अवस्थाएँ उन कर्मों का फल है। वे कर्म ही जीव स्वभाव का पराभव करके उन पर्यायों को उत्पन्न करते है। परमार्थ रूप से विचारा जाय तो कर्म जीव के स्वभाव का घात या आच्छादन नहीं करता, किन्तु आत्मा स्वयं अपने अपराध के कारण अमूर्तत्व स्वभाव को प्राप्त न करके विकारी होता है।

इस तरह आत्मा द्रव्यरूप से नित्य होनेपर भी पर्याय से अनवस्थित अनित्य है। उसमें संसार ही हेतु है क्यों कि संसार स्वरूप से अनवस्थित ही है। संसाररूप क्रिया परिणाम या संसरण रूप क्रिया क्षणिक है, वही द्रव्य कर्म के बंध का हेतु है। और उस परिणाम का हेतु भी अनादि परंपरा से बद्ध आत्मा का पूर्वबद्ध कर्म का उदय है। वास्तव में तो आत्मा अपने विकारी भाव कर्मों का कर्ता है, द्रव्य कर्म का नहीं और पुद्गल स्वयं अपने पर्यायों का कर्ता है कर्मरूप पुद्गलभावों का जीवरूप भावकर्म का नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैतन्य यह आत्मा का व्यापक धर्म होने से ज्ञान स्वभावी आत्मा का परिणमन चैतन्य रूपसे ही होता है। वह चेतना परिणति ज्ञान, कर्म और कर्मफल रूपसे तीन प्रकार होती है। ज्ञान स्वभाव से होनेवाला परिणमन 'ज्ञानचेतना' है, कर्तृत्व रूपसे वेदन 'कर्मचेतना' है और भोक्तृत्व रूपसे वेदन 'कर्मफलचेतना' है। यथार्थ में अन्य द्रव्य की विवक्षा न होने से वे तीनों चेतनाएँ आत्मरूप ही है।

इस प्रकार ज्ञेयरूप आत्माके शुद्ध स्वरूप के निश्चय से आत्मा के ज्ञान स्वभाव की सिद्धि होती है और शुद्धात्म लाभ भी होता है। आत्मा संसाररूप या स्वभाव परिणमनरूप स्वयं अपने आप परिणत होता है इसलिए वह स्वयं कर्ता है। स्वयं ही तीनों प्रकारकी परिणतियों में साधकतम करण है, वह स्वयं का ही परिणाम होने से स्वयं ही कर्म है और आकुलतारूप सुखदुःखरूप या अतीन्द्रिय अनाकुल सुखरूप स्वयं ही होने से वह स्वयं कर्मफल है। इस प्रकार एकत्व भावना से परिणत आत्मा को परपरिणति नहीं होती, परद्रव्य से असंपृक्त होने से विशुद्ध होकर पर्यायमूढ न होता हुआ वह स्वयं सुविशुद्ध होता है।

यहाँ तक ५३ गाथाओं में ज्ञेयत्वका सामान्य और विशेष वर्णन होता है। एक आत्मद्रव्य ज्ञानरूप है और आत्मासहित द्रव्यमात्र ज्ञेय है। संसार में भी प्राणोंके द्वारा आत्म 'द्रव्य' अचेतन द्रव्यों से पृथक पहिचाना जाता है। इन्द्रिय, बल, आयु और आणप्राण इन चार प्राणोंसे पूर्व में जिया है, जिता है और जियेगा इसलिए यद्यपि वह जीव कहलाता पर वे प्राण पुद्गलकर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने के कारण तथा पौद्गलिक कर्म का हेतु होने से वे चारों ही प्राण पौद्गलिक है। इन प्राणोंद्वारा जीव कर्मफल भोगता हुआ रागीद्वेषी होकर स्वपर के द्रव्यभावरूप प्राणों का व्याघात करके कर्मबंध करता है। इस पुद्गलमय प्राणों की संतति का अंतरंगहेतु पुद्गलकर्मोदय निमित्तक रागादिक तथा शरीरादिकों में ममत्व है। जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके अपने उपयोग स्वरूपी आत्मा में लीन होता है उसके प्राण संतति का उच्छेद होना है।

नरनारकादि गतिविशेषों से भी व्यवहार से जीव जानने में आता है। गतियों में अन्य द्रव्य का संयोग होने पर भी आत्मा अपने चेतनस्वरूप द्रव्यगुण पर्याय के द्वारा जडरूप द्रव्यगुण पर्यायों से अलग ही है। ऐसा स्वपर भेद विज्ञान आवश्यक है। पर द्रव्यसंयोग का कारण शुभाशुभ सोपराग (विकाररंजित) उपयोग-विशेष है। उपयोग शुभ है तो पुण्यप्राप्ति होती है और अशुभ है तो पापसंचय होता है। उपयोग सोपराग न होने पर आत्मा शुद्ध कहलाता है; वह परद्रव्य संयोग का अहेतु है। अरहन्त सिद्धसाधुओं की भक्ति, जीवों की अनुकम्पा यह शुभोपयोग है तथा विषय कषायों में मग्नता, कुविचार, दुश्रुति तथा कुसंगति उग्र कषाय के कारण आदि अशुभोपयोग है। और ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीनता या तन्मयता शुद्धोपयोग है। शरीर वचन मन ये सब पौद्गलिक होने से परद्रव्य है। आत्मा उन परद्रव्यों का न कर्ता है न कारयिता है। उन मनवचनकायरूप पुद्गल पिण्डों की रचना या बन्ध पुद्गल के ही स्निग्धत्व और रुक्षत्व के कारण होनेवाली बन्ध पद्धति से होती है। उस पुद्गल-पुद्गल के बन्ध का विस्तार से वर्णन आया है। सब पृथ्वी जलादि द्वयण्युकादि स्कंध अपने अपने परिणामों से होते है। आत्मा उन पुद्गल पिण्डों का न कर्ता है न नेता है। कर्मरूप पुद्गल पिण्डों का भी आत्मा कर्ता नहीं है, शरीर का भी नहीं है। आत्मा औदारिकादि शरीररूप भी नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरसमरुवमगंधं अवत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं ॥१७२॥

आत्मस्वरूप विधिमुख से और प्रतिषेधरूप से इस गाथा में कहा है। इस गाथा की टीका में तो आत्मा की परनिरपेक्ष स्वायत्तता का पुकार पुकार कर उद्घोष ही किया है। इसकी टीका में टीकाकार आचार्य की प्रज्ञा गहराई के साथ वस्तु के स्वरूप को स्पर्शती है।

ऐसे अमूर्त आत्मा को स्निग्धरूक्षत्व का अभाव होने पर बन्ध कैसे होता है ऐसा मौलिक प्रश्न उपस्थित करके उसका सुविस्तृत उत्तर १७४ से १९० तक १७ गाथाओं में विवेचनपूर्वक आया है।

प्रश्न अपने में मौलिक है। आचार्यों का उत्तर भी मौलिक है। आत्मा रूपी पदार्थ को जैसे देखता है जानता है, वैसे उसके साथ बद्ध भी होता है। अन्यथा अरूपी आत्मा रूपी पदार्थ को कैसे जानता देखता? यह प्रश्न भी उपस्थित होना अनिवार्य है। ज्ञान की स्वच्छता में पदार्थ का प्रतिबिंब सहज होता है। आत्मा का संबंध उन ज्ञेयाकारों से है न कि पदार्थों से, परंतु उन ज्ञेयाकारों में पदार्थ कारण होने से आत्मा उन रूपी पदार्थों को जानता है ऐसा कहा जाता है। ठीक उसी तरह आत्मा का संबंध तो आत्मा में परद्रव्य के एकत्वबुद्धि से जायमान रागद्वेषमोहरूप सोपराग उपयोग है उससे है। हां! उस सोपराग उपयोग में कर्म या अन्य पदार्थ निमित्त मात्र होने से आत्मा को उन पदार्थों का बंधन है ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। तत्त्वतः परद्रव्य के साथ आत्मा का कोई संबंध नही। यथार्थ में कार्यकारण भाव भी एक द्रव्याश्रित होता है, इसलिए आत्मा के लिए वास्तविक बंध तो उसके एकरूप चेतन-परिणाम में जो सोपराग उपयोग है वह है। उससे आत्मा का संबंध है। तन्मयता है, एकत्व परिणाम है, वही बंध है। इसलिए उस सोपरक्त उपयोग को ही भाव बंध कहते हैं। आत्मा में परिस्पन्द के कारण कर्मों का आना चालू रहता है, और यदि आत्मा विकारों से उपरक्त है अर्थात भावबंधरूप है तो वे समागत कर्म आत्मा में ठहरते है, चिपकते है इसलिए भावबंध ही द्रव्यबंध का कारण होने से प्रधान कहा गया है। यह सोपरक्त उपयोग ही स्निग्धरूक्षत्व की जगह जीव बंध है, कर्म का अपने स्निग्धरूक्षत्व के साथ जो एकत्व परिणाम है वही अजीव बंध है और आत्म प्रदेश तथा कर्म प्रदेशों का विशिष्ट रूप से अवगाह एक दूसरे के लिए निमित्त हो इस प्रकार का एक क्षेत्र अवगाह सो उभय बंध है। इस प्रकार बंध मोक्ष का यह सार है कि रागी कर्म बांधता है और वीतरागी कर्मों से मुक्त होता है।

वह सोपराग परिणाम मोहरागद्वेष से तीन प्रकार का है। उनमें मोह और द्वेष तो अशुभ है और परिणाम शुभ अशुभ भेद से दो प्रकार का है। शुभपरिणाम पुण्य बन्ध का कारण होने से पुण्य तथा अशुभ परिणाम पापकर्मों का कारण होने से पाप कहा जाता है। यह त्रिभूमि का रूप सोपराग परिणाम परद्रव्य प्रवृत्त एवं पर लक्ष्य से ही होते है। आत्मा का निरूपराग शुद्ध उपयोग मात्र स्वद्रव्य सापेक्ष एवं स्वलक्ष्य के कारण होने से, स्वद्रव्य प्रवृत्त है। तथा यथाकाल कर्मक्षय का और स्वरूप प्राप्ति का कारण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृथ्वीकायादि षट् जीवनिकाय कर्मनिमित्तक, कर्मसंयुक्त और कर्म का हेतु होने से परद्रव्य है और आत्मा चैतन्य स्वभाव से उनसे भिन्न है, ऐसा भेद विज्ञान ही स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण है और सोपरक्त उपयोग परद्रव्य में प्रवत्ति का कारण है। आत्मा अपने परिणामों को प्राप्त होता हुआ आत्मपरिणामों का ही कर्ता है किन्तु पुद्गलमय कर्मपरिणामों का नहीं, क्यों कि स्वभावतः वह पुद्गलपरिणाम के ग्रहण त्याग से रहित है। आत्मा अपने ही अशुद्ध परिणामों का कर्ता होने से इन अशुद्ध परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल स्वयं कर्मरूप परिणमते हुए आत्म प्रदेशों में विशेष अवगाहरूप रहते है। और यथासमय अपनी-अपनी (स्थिति समाप्त होने पर) जीव के शुद्ध परिणामों का निमित्त पाकर कर्म-क्षय को पाते हैं इसलिए कर्मनिमित्तक मोहरागद्वेष से उपरक्त आत्मा कर्मरज से लिप्त होता हुआ स्वयं बन्ध है।

राग परिणाम आत्मा का कर्म है तथा आत्मा उसका कर्ता है यह निश्चय नय है और कर्मरूप पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म और आत्मा उनका कर्ता यह व्यवहारनय है। दोनों नय है क्यों कि दोनों प्रकार से द्रव्य की प्रतीति होती है परन्तु स्वद्रव्य के परिणाम को बतलानेवाला निश्चयनय मोक्षमार्ग में साधकतम होने से उपादेय है। क्यों कि जो जीव विकारी आत्मा स्वयं बन्ध है ऐसी स्वभाव की अपेक्षासहित स्वीकार करना है वह परद्रव्य और परभावों से स्वयं को असंपृक्त रखता है। व्यवहार से निमित्त का ज्ञान करके उससे लक्ष हटाना ही कार्यकारी होने से व्यवहारनय हेय है साथ ही साथ निश्चयनय के आलंबन से पर से लक्ष्य हटाकर, ज्ञान स्वभाव के आश्रय से शुद्ध आत्मा के सम्मुख होकर शुद्ध आत्मा की होनेवाली प्राप्ति सर्वतः श्रेयस्कर है। इसीसे मोह तथा कर्म का नाश होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख की प्राप्ति होती है, जीव उसका सानुभव करता हुआ अविचल रूप से अनन्त काल रहता है।

इस तरह इस द्वितीय श्रुतस्कंध में द्रव्य का सामान्य वर्णनपूर्वक विशेष वर्णन तथा आत्मा का द्रव्य गुण पर्याय का स्वरूप बतलाकर शुद्धात्म द्रव्य की प्राप्ति की प्रेरणा की है।

चरणानुयोग चूलिका-तृतीय श्रुतस्कंध

सामान्य द्रव्य प्ररूपणा के उदाहरण स्वरूप जीव के द्रव्य गुण पर्याय का वर्णन तथा प्रथम अध्याय में वर्णित आत्मा और ज्ञान स्वभाव के सिद्धि के लिए विशेष द्रव्य प्रज्ञापना द्वितीय श्रुतस्कंध में कही गयी नरनारकादि पर्यायों में मूढत्व छूट कर स्वभाव के लक्ष्य से श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की साधना एक मात्र उपाय है। आत्म द्रव्य स्वभाव के अनुसार चरण होता है, और चरण के अनुसार ही आत्म स्वभाव बनता है। दोनों सापेक्ष होने से भूमिकानुसार द्रव्य का आश्रय लेकर या चारित्र का आश्रय लेकर मोक्ष मार्ग में आरोहण करना चाहिए। द्रव्यस्वभाव की सिद्धि में चारित्र की सिद्धि है और चारित्र की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि है। इसलिए आत्मद्रव्य स्वभाव के अविरोधी चारित्र स्वीकार्य है, आत्मस्वभाव की साधना चरण (चारित्र) के विना अशक्य है, श्रमण का चारित्र ही नियम से स्वभाव साधक होने से श्रमण की चर्या का वर्णन मोक्षमार्ग के वर्णन में क्रमप्राप्त होता है। जिस तरह स्वयं आचार्य ने प्रतिज्ञा के अनुसार साम्य नामक श्रामण्य का स्वीकार किया उसी तरह दुःख से छुटकारा चाहने-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले अन्य जीव को भी श्रामण्य का स्वीकार करना चाहिए। उसका यथा अनुभूत उपदेश आत्मा की मुख्यता से इस अध्याय में आचार्य द्वारा हुआ है।

श्रामण्यार्थी प्रथम तो पुत्र, पत्नि आदि परिवार को समझाकर उनसे विदाई लेकर उनसे मुक्त होता हुआ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का अंगीकार करता है। (२) कुलरूप वय से विशिष्ट गुणसमृद्ध आचार्य को प्रणत होकर उनके द्वारा अनुगृहीत होता हुआ जितेन्द्रिय और यथाजात दिगंबर मुद्रा धारण करता है। (३) हिंसा तथा शरीर संस्कार से रहित, केशलोंचप्रधान दिगंबर भेषरूप श्रामण्य का जो बाह्य चिन्ह है उसे और मूर्छा तथा आरंभ से रहित, परनिरपेक्ष योग उपयोग की शुद्धियुक्त जो अंतरंग चिन्ह है उनका (दीक्षा गुरुद्वारा दिये गये उन लिंगों को) ग्रहण क्रिया से समादर करता है। (४) अरहन्त देव तथा दीक्षा गुरु का नमस्कार द्वारा सम्मान करता है। क्योंकि उन्हीं के द्वारा मूलोत्तर गुण का सर्वस्व दिया गया था।

साम्य ही स्वरूप होने से श्रमण को सामायिक का स्वीकार अनिवार्य है। अपने शुद्ध स्वभाव में लीन होना ही सामायिक है। सामायिक का स्वीकार करने पर भी निर्विकल्प भूमिका से च्युत होकर पंचमहाव्रत, पंचसमिति, पांच इन्द्रियों का जय, छह आवश्यक, अचेलकत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन, खडे खडे भोजन और एकभुक्ति इन अट्ठाईस मूलगुणरूप भेद भूमिका में आता है। निर्विकल्प शुद्धोपयोग भूमिका से छूटकर सविकल्प भूमिका में आना छेद है। दीक्षागुरु ही (भेद में स्थापित करनेवाला) निर्यापक होता है, तथा वे ही या अन्य कोई भी साधु संयम का छेद होनेपर उस ही से स्थापन करनेवाला होने से निर्यापक होता है। संयम का छेद बहिरंग और अंतरंगभेद से दो तरह का है, मात्र शरीर संबंधी बहिरंग छेद का आलोचना से तथा अंतरंग छेद का आलोचना और प्रायश्चितपूर्वक संधान होता है। सूक्ष्म परद्रव्यों का भी रागादिपूर्वक संबंध छेद का आश्रय होने से त्याज्य है तथा स्वद्रव्य में संबंध ही श्रामण्य की पूर्णता का कारण होने से कर्तव्य है। आहार, अनशन, वसतिका, विहार, देह की उपाधि, अन्य श्रमण तथा आत्म-कथा की विसंवादिनी विकथाएँ इनसे प्रतिबंध (संबंध) अशुद्धोपयोग है और वह अंतरंग छेद का कारण होने से त्याज्य है। प्राण-व्यपरोपरूप बहिरंगछेद अंतरंगछेद का आश्रय होने से छेद माना गया है; किन्तु अयत्नाचार या अशुद्धोपयोग के सद्भाव में ही वह बंध करनेवाला है, उसके अभाव में नहीं। वास्तव में अयत्नाचार और अशुद्धोपयोग ही हिंसा है। चाहे प्राण व्यपरोप हो या नहीं। इस तरह केवल प्राण व्यपरोप में नियम से मुनीपणा का छेद नहीं है। किन्तु उपधि-परिग्रह बंध का कारण होने से तथा अशुद्धोपयोग का और अयत्नाचार का सहचारी होने से नियम से श्रामण्य का छेद ही है।

कारण मुनि को परिग्रह का निषेध कहा उसमें अंतरंग च्छेदका ही प्रतिषेध है। छिलके के सद्भाव में चावलों में रक्तिमारूप अशुद्धता होती ही है वैसे बाह्य परिग्रह के सद्भाव में अशुद्धोपयोग होता ही है; अतः शुद्धोपयोगजन्य मोक्षलाभ भी सुतरां अशक्य है। किन्तु उत्सर्ग मार्ग में अशक्त साधुओं को श्रामण्य और संयम की रक्षाके लिए अनिन्दनीय, असंयमी लोगों द्वारा अप्रार्थनीय तथैव मूर्छाका अनुत्पादक ऐसा दिगंबर जिनलिंग, पिंच्छी, कमंडलु, शास्त्र, गुरूपदेश आदि उपाधि अपवाद मार्ग में निषिद्ध नहीं है। मुनिचर्या की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहकारी होने से अप्रतिसिद्ध ऐसे शरीरमात्र उपाधि की संयम ध्यानादि साधना के लिए ही युक्ताहार-विहार के द्वारा रक्षा करता है। युक्ताहार का आशय योग्य आहार या योगी का आहार है। आत्मा स्वयं अनशन स्वभावी (या अविहार स्वभावी होने से) तथा एषणादि दोषरहित आहार ग्रहण करने से (समितिपूर्वक विहार करने से) युक्ताहारी श्रमण अंनाहारी ही कहा जायगा। १ एकही समय लिया गया, २ अपूर्णोदर, ३ यथाप्राप्त, ४ भिक्षावृत्ति से प्राप्त, ५ दिनको लिया हुआ ६, नीरस और मधुमांसरहित आहार ही युक्ताहार है, इससे विपरीत लिया हुआ आहार हिंसा आदि दोषों का कारण होने से अयुक्ताहार ही कहा गया है।

बाल, वृद्ध, श्रान्त और रुग्ण साधु को भी जिस तरह संयम का मूलभूत छेद न हो इस तरह कठोर आचरण उत्सर्ग मार्ग है तथा मूलतः छेद न हो इस प्रकार अपनी उपरोक्त चारों भूमिका योग्य मृदु आचरण करना अपवाद मार्ग है। साधुको उत्सर्ग और अपवाद की मैत्रीपूर्वक-संयम भी पले और शुद्धात्मसिद्धि के लिए शरीर प्रतिबंधक न हो इस प्रकार अपवाद-सापेक्ष उत्सर्गमार्ग या उत्सर्ग-सापेक्ष अपवादमार्ग का स्वीकार करना चाहिए। तात्पर्य साधुओं की चर्या जिस तरह शुद्ध आत्मा की साधना हो ऐसी आगमानुकूल होनी चाहिए।

साम्य या सामायिक ही श्रामण्यका लक्षण है, वही दर्शनज्ञान चारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्ग है। जिस जीव को स्वपर का निर्णय है वही अपने आत्मा में एकाग्रता कर पाता है। स्वपर पदार्थ का निर्णय इन्द्रिय विषयों में आसक्त जीव को आगम ज्ञान के विना असंभव होने से आगम के ज्ञानाध्ययन की प्रवृत्ति प्रयत्न-पूर्वक कुशलता से करनी मुमुक्षु को जीवनसाधना के हेतु अपरिहार्य है। इसलिए चाहे साधु हो या गृहस्थ हो दोनों के जीवनी में आगमाभ्यास की महत्ता विशेष है।

आगम चक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्व भूदाणि।
देवाय ओहि चक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू॥ प्रवच०॥

आशय यह है कि सर्वसाधारण प्राणियों के लिए इन्द्रिय ही नेत्र होता है, देव अवधिज्ञान-नत्रवाले होते हैं, साधु के लिए आगम ही नेत्र होता है, सिद्ध परमात्मा सर्वदर्शी होने से वे सर्वतःचक्षु होते हैं। आगमज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन होता है, आगमज्ञान तथा तत्त्वार्थ श्रद्धानपूर्वक संयम की युगपत् प्रवृत्ति मोक्षमार्ग है, जहां तीनों की एकता विद्यमान नहीं वहा मोक्षमार्ग संभव नहीं है। आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और चरण की एकाग्रता यदि आत्मज्ञानपूर्वक है तो कार्यकारी है।

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसय-सहस्स-कोडी हिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेहि उस्सास-मेत्तेण॥ २३८॥

सार संक्षेप यह है कि आत्मा को न जाननेवाला अज्ञानी शतसहस्र कोटी भवों में जो कर्मों का क्षय करता है उतना कर्मक्षय आत्मज्ञानी साधु क्षणमात्र में करता है। इसलिए आत्मज्ञान ही मोक्षमार्ग में कर्णधार एवं तीन गुप्तिसहित होने से प्रधान है। सच्चे साधुके लिए आगमज्ञानादि तीनों की एकाग्रता के साथ आत्मज्ञान का यौगपद्य अवश्यंभावी है और उस ही जीव का चारित्र व्रततपादि सफल है। ऐसा श्रमण स्वभाव से ही शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, निंदा-प्रशंसा, लोहकंचन, जन्म-मरण सर्वत्र समदृष्टि होता है। जिसे यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकाग्रता तथा यौगपद्य नहीं है वह बाह्यतः श्रमण होकर भी पदार्थों में मोहरागद्वेष के कारण विविध कर्म बंध ही करता है, तथा जो परद्रव्यों में रागादि नहीं करता और आत्मा में लीन होता है तो कर्मक्षय के साथ अतीन्द्रिय सुख को पाता है।

वास्तव में श्रमण शुद्धोपयोगी होते हैं तथापि गौण रूप से शुभोपयोगी भी होते हैं। शुद्धोपयोगी श्रमण आस्रवरहित होते हैं और शुभोपयोगी के पुण्य का आस्रव होने से वे उनकी कक्षा में नहीं आ सकते, फिर भी सामायिक से च्युत न होने के कारण श्रमण तो होते ही हैं। जिसे देव शास्त्रों में भक्ति, साधर्मी श्रमणों के प्रति वात्सल्य पाया जाय वह शुभोपयोगी श्रमण है, उन्हें वंदना, नमस्कार, अभ्युत्थान विनय तथा वैयावृत्य जैसा निन्दित नहीं वैसे ही उन्हें धर्मोपदेश, शिष्यों का पोषण, भगवान् के पूजा का उपदेश आदि सरागचर्या होती है, षट्काय जीव-हिंसा रहित, चतुःसंधों का उपकार उनको होता है, शुद्धोपयोगी के नहीं। उन्हें वैयावृत्यादि संयम से अविरोधी सराग क्रिया भी नियम से षट्काय जीव के विराधना के बिना ही होनी चाहिए। जहाँ जीवहिंसा पाई जाती वहां पर तो श्रामण्य का उपचार भी संभव नहीं। अल्पलेप होने पर भी श्रमण जिनमार्गी चतुःसंघ पर शुद्धात्म लाभ की भावना से निरपेक्ष तथा उपकार भी करता है किन्तु अन्य किसी भी लौकिक प्रयोजन से तथा मिथ्या मार्गी के प्रति वह समर्थनीय नहीं है। श्रमणों के वैयावृत्य के प्रयोजन बिना लौकिक जनों से भाषण तथा संगति भी आगम में निषिद्ध ही है। श्रमणाभासों के साथ सर्व व्यवहार वर्जनीय है। बाह्यतः तपसंयमधारी होने पर भी आत्मा तथा अन्य पदार्थों की जिसे आगमानुसार भेद-प्रतीति नहीं है वह श्रमणाभास कहलाता है। श्रमणों में भी यथायोग्य, यथागुण आगमानुकूल व्यवहार होना चाहिए, निर्दोष साधुचर्या के लिए सत्संग विधेय है तथा लौकिक साधु आदिकों का असत्संग परिवर्जनीय है।

इस तरह ७० गाथाओं में मुनिचर्या का स्वानुभव से ओतप्रोत साक्षात् प्रत्ययकारी निरूपण करने के बाद अन्त्य पाँच गाथाओं द्वारा जिनागम का रहस्य अलौकिक रूप से प्रगट किया गया है—वे पांच [२७१ से २७६ तक] गाथाएँ इस प्रवचनसार महाग्रंथराज की पंचरत्न कही जाती है।

(१) जो द्रव्यलिंगधारी होकर भी आत्मप्रधान पदार्थों की अयथार्थ प्रतीति करते हुए दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करनेवाले उन श्रमणों को साक्षात् 'संसारतत्त्व' जानना चाहिए। (२) यथार्थतः शास्त्र और अर्थ को समझकर समताधारी होते हुए जो अन्यथा प्रवृत्ति को टालते है ऐसे संसार में अत्यल्प काल रहनेवाले पूर्णरूप श्रमण ही साक्षात् 'मोक्ष तत्त्व' है। (३) वस्तुतत्त्व को यथार्थ जाननेवाला, अन्तरंग तथा बहिरंग परिग्रह को छोडता हुआ, विषयलोभ से अतीत शुद्धोपयोगी श्रमण ही 'मोक्ष का कारण तत्त्व' है। (४) उन शुद्धोपयोगी के ही श्रामण्य, दर्शन, ज्ञान तथा निर्वाण होता है उनके सर्व मनोरथ सम्पन्न होने से वे ही हृदय से अभिनन्दनीय हैं। (५) इसलिए जो जिन प्रवचन को यथार्थ जानते है ऐसे शिष्य ही यथा स्थान सविकल्प-निर्विकल्प भूमिका में वर्तते हुए प्रवचन के सारभूत भगवान् आत्मा को पाते है।

इस प्रकार प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने आत्मा की प्रधानतापूर्वक वस्तुस्वरूप का हृदय-ग्राही प्रतीतिकारक विवेचन किया है। तत्त्व की भूमिका सरल शैली में सुबोध रीति से समझना यह तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुन्दकुन्दाचार्य की शैली की विशेषता रही है। भगवान् केवली तथा श्रुतकेवली के सान्निध्यपूर्वक अनुग्रह प्राप्त होने से बल–प्राप्त वह स्वानुभव की भूमिका सजीव हो उठी है। उनके विशेष अधिकार की बात कहनी ही क्या ? वे तो दिगंबर परम्परा में सर्वमान्य हैं ही। अन्य जैन सम्प्रदाय तथा आत्म जिज्ञासू अन्य तत्त्वज्ञ भी उनके प्रति समादर रखते हैं। उन का साहित्य अध्यात्म रसिकों को आकर्षण का एकमात्र कारण रहा है। समीचीन–मोक्षमार्ग दिगंबरत्व-श्रामण्य मानों उनके रूप में साकार हुआ हो !

आचार्य अमृतचंद्र ने उनके प्रवचनसार का आत्मा अपनी तत्त्वदीपिका टीका में तो सातिशय विशेष रूप से खोल दिया है। वे भाषाप्रभु और काव्यात्म तत्त्वज्ञ थे। तत्त्वज्ञान के गहराई में जाकर उनकी भाषा तत्त्व और भाव को ठीक स्पर्श करती है। आत्मा के ज्ञान और सुख स्वभाव का वस्तु के द्रव्य गुण पर्याय का उत्पाद व्यय के स्वरूप का अमूर्त कालद्रव्य के स्वरूप का तथा उसके कार्य का विवेचन, आत्मा का स्वरूप, बंध का स्वरूप, आत्मज्ञान के साथ दर्शन ज्ञान चारित्र की एकाग्रता–यौगपद्य आदि सर्वत्र विषयों के निरूपण में सर्वत्र उनके गहराई प्रतीत होती है। सर्व विवेचन तर्कनिष्ठ होकर भी अनुभव प्रतीति से सुस्नात है। अन्त में आत्मा क्या चीज है और वह कैसा प्राप्त होता इस को सैतालिस नयों के द्वारा जो समझाया है वह इस ग्रंथ की तत्त्वप्रदीपिका टीका का खास वैशिष्ट्य है।

सारत्रयी में से पंचास्तिकाय तथा प्रवचनसार इन दोनों में आचार्यश्री ने आत्मा की मुख्यता से वस्तुतत्त्व के निरूपण के द्वारा भगवान् की तत्त्वदृष्टि ही खोल कर जिज्ञासुओं के सम्मुख प्रस्तुत की है। इससे अमृतचंद्र आचार्य की टीका का तत्त्वप्रदीपिका नाम सार्थ है। यह तत्त्वदृष्टि ही समयसार में प्रदर्शित स्वपर भेद विज्ञाननिष्ठ जीवनदृष्टि की जिसे टीकाकार आत्मख्याति कहते हैं आधार शिला है। इसलिए इस सारत्रयी का अध्ययन, मनन, चिंतन साधक मुमुक्षुओं के लिए अनिवार्य है। आचार्य कुंद-कुंद देव का तथा टीकाकार द्वयों का मुमुक्षु जीवों पर यह महान उपकार है। नमस्कार हो आचार्य कुंदकुंद को ! आचार्य अमृतचंद्र को ! और आचार्य जयसेन को !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org